



## Tally EVMs' ID Nos at Voting, Counting

### ET Editorials

The Election Commission has written to state chief electoral officers and manufacturers of electronic voting machines (EVMs), reports this newspaper, to streamline the storage and transport of these key instruments of democracy. "There shall be real-time tracking and monitoring of the movement of EVMs and VVPATs through GPS-enabled mobile app-based GPS tracking used in vehicles," says the commission. This is welcome. But it will take time to put a GPS chip in every EVM and create the backend for tracking all EVMs in real time to tally their actual location with where they are supposed to be. More immediate measures are called for. While Indian EVMs are difficult to hack, as these are not networked and every constituency has its own configuration of buttons and corresponding candidates/parties, ruling out any centralising tampering to contrive registration of votes for a particular button whatever button is actually pressed, nothing prevents switching of machines.

If an EVM that is used for voting is replaced, at the time of counting, with another one on which the right buttons have been pressed to give a huge lead to a particular candidate, democracy would be subverted, without any hacking of the machine. Spare EVMs are kept in a reserve pool, to replace machines that fail to work, but unless a close watch is kept on these, corrupt officials could get away with the equivalent of the ballot box switching of old. Every machine must have its own unique number and polling agents must sign off on the ID of the machine used in every booth, and this must tally with the machines counted. This reform, mostly procedural, can be put in place, while the process of GPS-enabling gets underway. A vigilant commission is the key to protecting the integrity of the democratic process.

# पहले तय तो करें सही पहचान

शंकर शरण, (लेखक राजनीति शास्त्र के प्राध्यापक तथा वरिष्ठ स्तंभकार हैं)

अल्पसंख्यक मुद्दे पर वही हुआ, जो दशकों से होता आया है। सुप्रीम कोर्ट में दायर याचिका में अल्पसंख्यक अवधारणा को स्पष्ट करने की गुहार लगाई गई थी, ताकि सरकारी कामकाज में विभिन्न स्तरों पर इसकी आड़ में हो रही मनमानी व अन्याय पर विराम लगाया जा सके। परंतु यहां एक खास मतवाद या समुदाय से संबंधित कोई उचित काम करने में भी तंत्र के सभी अंग हीलाहवाली ही करते हैं। इसमें भी वही हुआ और सुप्रीम कोर्ट ने इसे परिभाषित करने का काम अल्पसंख्यक आयोग को सौंप दिया मानो वही संविधान का व्याख्याता हो! जबकि संविधान में मौजूद 'अल्पसंख्यक' शब्द को केवल संसद या सुप्रीम कोर्ट ही परिभाषित कर सकते हैं। यह भी कितनी दुःखद स्थिति कि जो कोर्ट मामूली मुद्दे पर भी खुद निर्णय करता है, वह एक संवैधानिक उपबंध से जुड़े व दशकों से चली आ रही गड़बड़ी पर फैसला सुनाने से कन्नी काटता है। वस्तुतः यह भी इस समस्या की गंभीरता का ही संकेत है। भारत में यह ऐसी समस्या है, जिससे तमाम अन्य समस्याएं जुड़ी हैं। इसके समाधान में कई जटिल समस्याओं के समाधान की कुंजी है। पर सत्ता के सभी अंग इस पर खुलकर सोचने से भी बचते हैं जबकि देश का जनमत चाहता है कि 'अल्पसंख्यक' और 'बहुसंख्यक' की परिभाषा व विकृति से जुड़ी कानूनी विषमता दूर होनी चाहिए, क्योंकि इसी अस्पष्टता की आड़ में विभिन्न सियासी दल, देसी-विदेशी संगठन और एक्टिविस्ट भारी गड़बड़ करते रहे हैं। ऐसा न तो दुनिया में अन्य किसी देश में है, न ही यह हमारे मूल संविधान में था।

समकालीन विमर्श में अल्पसंख्यक शब्द का आशय संकीर्ण हो चला है। जस्टिस राजेंद्र सच्चर की अध्यक्षता वाली समिति ने सरकारी दस्तावेज में 'अल्पसंख्यक' और 'मुसलमान' शब्दों को एक-दूसरे के पर्याय के रूप में इस्तेमाल किया था। ऐसी समझ मूल संविधान की नहीं थी। फिर भी पिछली संप्रग सरकार ने इसकी अनदेखी कर सच्चर समिति की अनुशंसाएं लागू करने का फैसला किया। ऐसे नजरिए ने देश में दो प्रकार के नागरिक बना दिए हैं जिससे 'कानून के समक्ष समानता' का संवैधानिक पहलू गौण हो गया है। कुछ वर्ष पहले पश्चिम बंगाल के शीर्ष पुलिस अधिकारी ने बेधड़क कहा था कि वह समुदाय को देखकर ही हिंसा संबंधी घटनाओं पर कार्रवाई करते या नहीं करते हैं। राजनीतिक बिरादरी की भी यही स्थिति है। इससे नागरिक समानता का मखौल उड़ता है। यह सब 'अल्पसंख्यक' शब्द को कानूनी तौर पर अस्पष्ट छोड़ देने से ही हुआ। यह भी अभूतपूर्व स्थिति है कि किसी देश में अल्पसंख्यक को वह अधिकार मिलें, जो बहुसंख्यक को नहीं हैं। पश्चिमी लोकतंत्रों में 'माइनोंरिटी प्रोटेक्शन' का लक्ष्य होता है कि किसी के अल्पसंख्यक होने के कारण उसे किसी अधिकार से वंचित न रहना पड़े जो दूसरों को सहज प्राप्त है।

भारत में इस अवधारणा को ही उलट दिया गया है जहां अल्पसंख्यकों के लिए विशेषाधिकारों की बात होती है। यह विकृति भारत में नागरिकों को दो किस्मों में बांट देती है। एक वे जिसके पास दोहरे अधिकार हैं और दूसरे वे, जिन्हें एक ही तरह के अधिकार हैं जो पहले के पास भी हैं। यह हमारे देश और समाज के लिए घातक साबित हुआ है जो समाज के कई वर्गों में जहर घोल रहा है।

सच तो यह है कि भारत में इस अवधारणा की जरूरत ही नहीं थी, जो योरपीय समाजों में नस्लवादी या सामुदायिक उत्पीड़न के इतिहास से पैदा हुई है। जबकि भारत में अंग्रेजी राज के दौरान भी ऐसा कुछ नहीं था। यहां तो गोरे अंग्रेजों, यानी लघुतम अल्पसंख्यकों को ही अति-विशिष्ट अधिकार हासिल थे। उससे पहले, मुगल शासन में भी अगर कोई वंचित समुदाय था तो वह बहुसंख्यक हिंदू ही थे जिन्हें जजिया देना पड़ता था। ऐसे में अक्वल तो 'अल्पसंख्यक संरक्षण की अवधारणा ही भारत में मतिहीन होकर अपना ली गई, जिसका कोई संदर्भ यहां नहीं था। फिर भी, जब इसे पश्चिम से ले ही लिया गया तो वहां भी इसका यह अर्थ कतई नहीं कि अल्पसंख्यकों को ऐसे विशेषाधिकार दे दिए जाएं जो कथित बहुसंख्यक के पास न हों।

इससे जुड़ी तीसरी गड़बड़ी यह है कि 'बहुसंख्यक के रूप में कोई कुछ भी समझे, वह हमारे संविधान में कहीं नहीं है। यहां अनेक राजनीतिक, कानूनी गड़बड़ियां इसी कारण पनप रही हैं। यहां कोई मुस्लिम या ईसाई व्यक्ति भारतीय नागरिक और अल्पसंख्यक, दोनों रूपों में अधिकार रखता है, किंतु एक हिंदू केवल नागरिक के रूप में। बतौर हिंदू वह अदालत से कुछ नहीं मांग सकता, क्योंकि संविधान में हिंदू या बहुसंख्यक जैसी कोई मान्यता ही नहीं है। इसीलिए हिंदू मंदिरों पर सरकार कब्जा करती रहती है, जबकि तमाम गड़बड़ियों के बावजूद मस्जिदों और चर्च के मामले में हस्तक्षेप नहीं किया जाता। यह मुस्लिमों और ईसाइयों की तुलना में हिंदुओं की हीन स्थिति का केवल एक उदाहरण है। निःसंदेह, हमारे संविधान निर्माताओं का यह आशय नहीं था, किंतु कुछ बिंदुओं में ऐसी रिक्तता और अंतर्विरोध के कारण आज यह दुष्परिणाम देखना पड़ रहा है। जैसे, संविधान का अनुच्छेद 29 अल्पसंख्यक के संदर्भ में धर्म, नस्ल, जाति और भाषा, यह चार आधार देता है। जबकि अनुच्छेद 30 में केवल धर्म और भाषा का उल्लेख है। तब अल्पसंख्यक की पहचान किन आधारों पर हो? यह अनुत्तरित है। अतः जब तक इसे स्पष्ट न किया जाए, तब तक 'अल्पसंख्यक नाम पर होने वाले सारे कृत्य अनुचित हैं।

आज अल्पसंख्यकों के नाम पर जारी मनमानियां संविधान निर्माताओं के लिए अकल्पनीय थीं। वे सभी के लिए समान अधिकारों के हिमायती थे। संविधान में अल्पसंख्यकों की परिभाषा अधूरी रह गई, जिसका दुरुपयोग कर नेताओं ने अपने हित साधने शुरू कर दिए। यह अन्याय मूलतः सत्ता की ताकत और लोगों के अज्ञान के कारण होता रहा है। ऐसा इसलिए भी हुआ, क्योंकि एक बुनियादी प्रश्न पूरी तरह और आरंभ

से ही उपेक्षित है कि बहुसंख्यक कौन है? ऐसे में अल्पसंख्यक की धारणा ही असंभव हो जाती है, क्योंकि 'अल्प व 'बहु तुलनात्मक अवधारणाएं हैं। एक के बिना दूसरा नहीं हो सकता।

इसका सबसे सरल, निर्विवाद समाधान यह है कि संसद में एक विधेयक पारित कर वैधानिक अस्पष्टता दूर की जाए। यह घोषित किया जाए कि संविधान के अनुच्छेद 25 से 30 में वर्णित अधिकार सभी समुदायों के लिए समान रूप से सुनिश्चित करने के लिए दिए गए थे। यही उनका आशय है। ऐसी कानूनी व्यवस्था से किसी अल्पसंख्यक का कुछ नहीं छिनेगा, बल्कि दूसरों को उनका वह हक मिल जाएगा, जो उनसे सियासी छल करके छीन लिया गया। यदि हमारी संसद, सुप्रीम कोर्ट या केंद्रीय मंत्रिपरिषद इसे समाप्त कर दें तो तमाम सामुदायिक भेदभाव, सांप्रदायिकता और देशघाती वोट बैंक की राजनीति के खत्म होने का मार्ग खुल जाएगा।

## सियासी दल पहले स्वयं को सुशासित करें

उदय प्रकाश अरोड़ा , ( लेखक जेएनयू के पूर्व ग्रीक चेयर प्रोफेसर हैं )

आज भारत का पढ़ा लिखा तबका भी यह मानने लगा है कि राजनीति एक गंदी चीज है। वह चूंकि साफ-सुथरी हो ही नहीं सकती, लिहाजा उससे बचकर रहना चाहिए। शायद इसी वजह से आज बोलचाल की भाषा में राजनीति शब्द का प्रयोग नकारात्मक अर्थ में होने लगा है। सवाल यह खड़ा होता है कि या अब से पहले भी राजनीति शब्द का इस्तेमाल इसी प्रकार होता था? स्कूली जीवन में मैंने सरदार पटेल पर एक कविता पढ़ी थी, जिसकी एक पंक्ति थी, 'राजनीति' का कुशल खिलाड़ी वह सरदार पटेल।' की कुशल राजनीतिक निपुणता का ही फल था कि 565 रियासतों का भारत के साथ एकीकरण किया जा सका। जहां आज राजनीति करने के कारण नेताओं को सामान्यतः बुरी दृष्टि से देखा जाने लगा है वहीं सरदार पटेल की गणना राजनीति करने के कारण भारत के महापुरुषों में की जाती है। भले ही राजनीति को आज नकारात्मक दृष्टि से देखा जाने लगा हो, लेकिन महात्मा गांधी और सरदार पटेल के समय में ऐसा नहीं था। राजनीति करना तब एक सकारात्मक कार्य माना जाता था। जो राजनीति करते थे, जनता उन्हें आदर की दृष्टि से देखती थी। स्वतंत्र भारत के राजनीतिज्ञों की प्रथम पीढ़ी गांधी जी के नेतृत्व में विकसित हुई थी। गांधी जी ने जिस राजनीति को जन्म दिया, धर्म और नैतिकता के बिना उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। अतः हमारे नेताओं ने उस समय एक साफ-सुथरी स्वच्छ राजनीति बनाने की चेष्टा की। डॉ. आंबेडकर, डॉ. लोहिया, पं. नेहरू, श्यामाप्रसाद मुखर्जी, कृपलानी, नरेंद्र देव, अशोक मेहता, जयप्रकाश नारायण, अटल बिहारी वाजपेयी जैसे नेताओं ने नैतिक राजनीति के निर्माण के लिए पूरी

कोशिश की। डॉ. लोहिया जब प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के महामंत्री थे तब उनकी पार्टी की सरकार केरल में बनी।

स्वतंत्र भारत की वह पहली गैर-कांग्रेसी सरकार थी। 1955 में सरकार के विरुद्ध मजदूरों का एक आंदोलन कुछ मांगों को लेकर प्रारंभ हुआ। आंदोलनकारियों का एक बड़ा प्रदर्शन त्रिवेंद्रम में हुआ। प्रदर्शन को रोकने के लिए अनियंत्रित भीड़ पर पुलिस को गोली चलानी पड़ी। सात लोग मारे गए। उस समय लोहिया जी इलाहाबाद में थे। घटना के बारे में जब उन्हें पता चला तब उन्होंने तुरंत कहा कि मुख्यमंत्री सहित पूरा मंत्रिमंडल त्यागपत्र दे, घटना की उच्चस्तरीय जांच हो और दोषी लोगों को दंडित किया जाए। लोहिया जी का कहना था कि आज स्वतंत्र देश की निहत्थी जनता पर चुनी हुई सरकार को गोली चलाना पड़े तो यह शर्मनाक बात है। उसके बाद पार्टी के सदस्यों ने बैठक की। विचार-विमर्श हुआ। लोहिया जी की बात उन्होंने नहीं सुनी। उनका मानना था कि चूंकि गैर-कांग्रेसी दल को पहली बार सरकार बनाने का मौका मिला है, लिहाजा उसे खोना नहीं चाहिए। लोहिया जी अपनी बात पर डटे रहे। मतभेद होने के कारण उन्होंने न केवल महामंत्री पद से, बल्कि पार्टी की प्राथमिक सदस्यता से भी त्यागपत्र दे दिया। यह थी उनकी नैतिकता की राजनीति। लालबहादुर शास्त्री जब रेलमंत्री थे तब एक रेल दुर्घटना में 140 यात्रियों की मृत्यु के कारण उन्होंने रेल मंत्री पद से त्यागपत्र दे दिया। इसकी मिसाल आज भी दी जाती है।

सवाल है कि कहां विलुप्त हो गई भारतीय राजनीति की वह नैतिकता? कौन है इसका दोषी? या हमारा मौजूदा लोकतांत्रिक ढांचा इसके लिए दोषी है? ऐसी उसमें या खामियां हैं जिसके कारण देश में आज राजनीति हेय का विषय बनती जा रही है? कभी प्राचीन एथेंस के लोकतंत्र की आलोचना करते हुए प्लेटो ने लिखा था, 'लोकतंत्र का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह एक आम आदमी को विदेश नीति, अर्थव्यवस्था और इसी तरह के दूसरे गंभीर मुद्दों पर सदन में बोलने, अपना मत देने और कार्यकारिणी में निर्वाचित होकर कार्यवाही करने की पूरी इजाजत देता है, जबकि ये विषय ऐसे हैं कि केवल विशेषज्ञ ही इनके बारे में सही दिशा में सोच सकते हैं।' प्लेटो ने सरकार चलाने वालों में दार्शनिकों और चिंतकों के शामिल किए जाने पर सबसे अधिक जोर दिया था। लोकतंत्र का दूसरा बड़ा दोष उन्होंने यह माना कि इस व्यवस्था में नेताओं के चुने जाने में वे कारण प्रभावी हो जाते हैं जिनका प्रशासन चलाने से कुछ लेनादेना नहीं होता, जैसे कि धन का खेल, वंश और परिवार की पृष्ठभूमि और जनता को बहकाने वाले लच्छेदार भाषण।

उनके हिसाब से तीसरा दोष था कि लोकतंत्र देश को अराजकता (भीड़तंत्र) की दिशा में ले जा सकता है। आज प्राचीन एथेंस नहीं है, फिर भी प्लेटो की आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले कही गई ये बातें भारत के वर्तमान लोकतंत्र के संदर्भ में बहुत कुछ सच लगती है। इसका यह अर्थ नहीं कि हम लोकतंत्र को तिलांजलि दे दें। विशेषज्ञों ने तमाम बुराइयों के बावजूद लोकतंत्र को मौजूदा किसी दूसरी व्यवस्था से

बेहतर माना है। इसमें कोई संदेह नहीं कि विभिन्न कारणों से भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में कई खामियां हैं। दरअसल हमारे संविधान निर्माताओं ने देश में लोकतंत्र की जिस व्यवस्था को चुना वह है संसदीय प्रजातंत्र। संसदीय व्यवस्था का आधार हैं राजनीतिक दल। एक स्वस्थ संसदीय व्यवस्था के संचालन के लिए आवश्यक है कि राजनीतिक दल प्रजातंत्र को मजबूत करें, लेकिन वे ऐसा नहीं कर रहे हैं। संसदीय कार्यवाही का गिरता स्तर गंभीर समस्या बन गया है तो राजनीतिक दलों के कारण ही। जब तक पार्टियां स्वयं जनतांत्रिक नहीं होंगी, उनके द्वारा लोकतंत्र कैसे स्थापित हो सकता है? भारत के लोकतंत्र की आज सबसे बड़ी समस्या यह है कि पार्टियों के भीतर 'आंतरिक लोकतंत्र' का अभाव है। लगभग सभी पार्टियां परिवारवाद, वंशवाद, जातिवाद अथवा व्यक्तिवाद की शिकार हैं। पार्टियों के भीतर चुनाव नहीं होते। मुखिया द्वारा पदाधिकारी मनोनीत किए जाते हैं। भारत आज दुनिया का सबसे बड़ा प्रजातंत्र है। चुनावों का उसे लंबा अनुभव है। इस अनुभव के बावजूद पार्टियों ने अपने को बदला नहीं। सुशासन के लिए जरूरी है कि पहले राजनीतिक दल अपने को सुशासित करें। परिवार, वंश और व्यक्ति पूजा छोड़कर दल के भीतर जनतंत्र लाएं। ऐसा होने पर ही सुशासन को महत्ता मिलेगी। आज देश में दलों की संख्या निरंतर बढ़ जा रही है। यह एक हास्यास्पद स्थिति है। इस पर रोक लगनी चाहिए। अगर राजनीति नहीं सुधरी तो देश भी नहीं सुधरेगा।

## ईवीएम मशीन की समीक्षा से ही बहाल हो जाएगा

### भरोसा

देवांगशु दत्ता

हर चुनाव से पहले इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन (ईवीएम) को लेकर चर्चा होने लगती है। भारत में बड़े पैमाने पर होने वाले चुनावों को देखते हुए ईवीएम अपरिहार्य हो चुकी हैं। लेकिन इनमें इस्तेमाल होने वाली तकनीक अपारदर्शी होने से इसमें धांधली के आरोप लगते रहते हैं। चुनाव आयोग ने लगातार इन आरोपों को नकारते हुए कहा है कि ईवीएम को हैक करना तकनीकी रूप से नामुमकिन है। लेकिन यह दावा बेतुका है क्योंकि किसी भी इलेक्ट्रॉनिक कंप्यूटर को हैक किया जा सकता है। भारत इलेक्ट्रॉनिक्स लिमिटेड (बीईएल) और इलेक्ट्रॉनिक्स कॉर्पोरेशन ऑफ इंडिया लिमिटेड (ईसीआईएल) ईवीएम का निर्माण करते हैं। ईवीएम एक कंप्यूटर ही होता है जिसके मदरबोर्ड में एक खास चिप लगी होती है और डाले गए मतों को दर्ज करने के लिए एक मेमरी यूनिट भी होती है। ईवीएम एक ऐसी मशीन है जो किसी नेटवर्क से नहीं जुड़ी होती है और उसे प्रोग्राम किया जा सकता है। इनका परिचालन नियंत्रित करने वाली चिप पर प्रोग्राम कोड अंकित होते हैं। इसमें गंभीर मसले खड़े होने की संभावनाएं निहित हैं।

उम्मीदवारों के नाम उनके चुनाव चिहनों के साथ वर्णक्रम में दर्ज होते हैं। हरेक मशीन में करीब 3,800 मतों को स्टोर किया जा सकता है और उसमें 64 उम्मीदवारों को मिलने वाले मत दर्ज हो सकते हैं। हाल में डाले गए मत की पुष्टि करने के लिए वीवीपैट की व्यवस्था भी जोड़ी गई है। वीवीपैट वाली ईवीएम मशीनों में मतदान के बाद एक पर्ची निकलती है जिस पर मतदाता का नाम और उसके द्वारा डाले गए मत का ब्योरा होता है। मतदाता के पास यह जांचने के लिए 7 सेकंड का वक्त होता है कि उसका मत पसंदीदा उम्मीदवार को गया है या नहीं। यह समय बीतने के बाद वह पर्ची एक बंद बक्से में जमा कर दी जाती है। बाद में जरूरत महसूस होने पर ईवीएम में दर्ज मतों का वीवीपैट पर्चियों के साथ मिलान किया जा सकता है। अगर दोनों विवरणों में मेल नहीं बैठता है तो उसे मतदान अधिकारी को बताना चाहिए। फिर 'टेस्ट वोट' का प्रावधान रखा गया है। अगर उसमें भी गड़बड़ी पाई जाती है तो उस ईवीएम मशीन को हटाकर दूसरी मशीन लगा दी जाती है। लेकिन टेस्ट वोट में कोई गड़बड़ी न मिलने पर शिकायत खारिज कर दी जाती है।

हरेक ईवीएम में एक कंट्रोल यूनिट और एक मतदान यूनिट होती है। वीवीपैट एक अलग मशीन होती है और ईवीएम से जोड़ी जाती है। ईवीएम की दो इकाइयां एक तार से जुड़ी होती हैं। मतदान यूनिट पर मतदान से संबंधित बटन लगे होते हैं जबकि कंट्रोल यूनिट में मतों का ब्योरा रखा जाता है और गिनती के समय मतों की संख्या के बारे में भी बताती है। मतदान यूनिट पर जब भी बटन दबाया जाता है तो एक मत दर्ज हो जाता है और वह मशीन लॉक हो जाती है। अगला मत दर्ज करने के लिए कंट्रोल यूनिट की मदद से उसे अनलॉक करना पड़ता है।

जनवरी में सैयद शुजा नाम के एक शख्स ने ईवीएम मशीनों को लेकर बेहद सनसनीखेज दावा किया था। शुजा ने वर्ष 2009-14 तक ईसीआईएल में काम करने का दावा करते हुए कहा कि वह ईवीएम मशीनों के डिजाइन और परीक्षण करने वाली टीम का हिस्सा रहा था। वर्ष 2014 के चुनाव में इन्हीं मशीनों का इस्तेमाल किया गया था। शुजा के मुताबिक उसे अमेरिका में शरण लेने के लिए मजबूर किया गया था। उन्होंने यह भी दावा किया कि रिलायंस जियो ने 2014 के चुनाव में ईवीएम मशीनों को कम-आवृत्ति वाले सिग्नलों के जरिये प्रभावित कर भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) को फायदा पहुंचाया। (वैसे जियो की वाणिज्यिक सेवाएं सितंबर 2016 में शुरू हुई थीं।) हालांकि शुजा ने अपने बड़े दावों के समर्थन में कोई सबूत नहीं पेश किया।

जनवरी में ही आम आदमी पार्टी विधायक सौरभ भारद्वाज ने यह दिखाने की कोशिश की कि ईवीएम के हार्डवेयर को बदलना किस तरह संभव है। अन्य शोधकर्ताओं ने भी ईवीएम को हैक किए जाने की स्थिति दर्शायी है। उनके मुताबिक चिप या सर्किट बोर्ड को आसानी से बदलकर हैकिंग की जा सकती है। चिप के साथ बड़ी समस्या यह है कि उसका न तो परीक्षण हो सकता है और न ही उसकी पुष्टि की जा सकती है।

ईसीआई के पास यह बताने का कोई तरीका नहीं है कि किसी ईवीएम में लगी चिप दूसरी चिप से बदली जा चुकी है। सुरक्षा विशेषज्ञों ने बारंबार यह कहा है कि सोर्स कोड बताने से ईसीआई के इनकार से यह काफी असुरक्षित हो जाता है। किसी भी गोपनीय एवं बग वाले कोड को खंडित किया जा सकता है और पहचाने जाने का भी डर नहीं रहता है। यही वजह है कि तमाम बड़ी कंपनियां अपने प्रोग्राम के सोर्स कोड जारी करती हैं जिसके आधार पर स्वतंत्र सुरक्षा विशेषज्ञ उनमें मौजूद खामियों को पहचान कर उन्हें दूर करने के उपाय बता सकते हैं।

ईसीआई इस समय ईवीएम या वीवीपैट नहीं बदलने जा रहा है। एक मांग यह की गई है कि 50 फीसदी ईवीएम मशीनों का मिलान वीवीपैट पर्चियों से किया जाए और अधिक गलतियां पाए जाने पर वहां पुनर्मतदान कराया जाए। एक अन्य सुझाव यह है कि जीत का अंतर कम होने पर वीवीपैट पर्चियों की गिनती अनिवार्य की जाए। ईवीएम और वीवीपैट मशीनों के औचक नमूने रखे जाने चाहिए ताकि मतदान प्रक्रिया में भरोसा बहाल हो सके। वीवीपैट से जुड़ी खामियों को भी दुरुस्त करने की जरूरत है। कोई भी चालाक हैकर लगातार कई मतों में छेड़खानी नहीं करेगा। मसलन, हरेक तीसरे मत में छेड़छाड़ की जा सकती है और उसके बाद भी वीवीपैट का टेस्ट वोट यही बताएगा कि मशीन सही तरह काम कर रही है। ईवीएम का मौलिक डिजाइन 1980 में तैयार किया गया था। ऐसी स्थिति में ईवीएम के हार्डवेयर एवं सॉफ्टवेयर की समीक्षा का वक्त आ चुका है। इसका सोर्स कोड भी जारी किया जाना चाहिए ताकि खामियों को दूर कर मतदाताओं का भरोसा बहाल किया जा सके।

**Date:12-02-19**

## Let Us Digress

***Amol Palekar did not stray from the subject. But NGMA has forgotten its duty to provide space for free expression***

### Editorial

The inauguration of an exhibition in memory of the modernist painter Prabhakar Barwe (1936-1995) at the National Gallery of Modern Art in Mumbai has once again exposed the culture of compliance which has been developing in recent years. The actor, filmmaker and painter, Amol Palekar, had chosen the moment to voice his apprehension that as far as he knew, this would be the last exhibition at the NGMAs in Mumbai and Bengaluru organised by an advisory committee of local artists, and that



henceforth all decisions might be taken by the central ministry of culture. Besides, few works would be displayed which were not in the collections of the NGMA. Upon which, NGMA director Anita Rupavataram and former chairman of the advisory committee Suhas Bahulikar interrupted him to request him to “stick to” Barve’s work. Palekar asked if he was being censored or disallowed from speaking — and was again told to keep to the subject. He had to wind up his speech. The incident has rightly evoked shock across the country, especially on account of the stature of the speaker and the importance of the venue.

Palekar digressed from the subject after speaking almost 600 words about his friend Barve in a written speech. It was, in fact, no digression, because he was expressing concerns about state and ideological interference in the arts that Barve himself might have articulated, had he witnessed the arc that individual freedoms have seemed to take from the time of “award wapsi” to the present. Institutions like the NGMA are expected to push back against perceived pressures, not to encourage self-censorship and expect even their guests to refrain from speaking their mind, or expressing their disquiet. This obsession with the ostensibly approved line is peculiarly Soviet, rather than Indian. An institution cannot invite speakers and expect them to cleave to an invisible line. If that is the expectation, they should invite officials who are accustomed to working within set bounds, rather than artists, whose work springs from the freedom of expression.

When he was rudely interrupted, Palekar alluded to the case of Nayantara Sahgal, who was invited to the inauguration of the prestigious Akhil Bharatiya Marathi Sahitya Sammelan in January, and then swiftly disinvited on fears that she would criticise the government. Indeed, the text of her speech objected to curtailed personal freedoms and the imposition of a uniform cultural identity on a land of diversity. To remain worthy of respect, institutions should jealously guard their intellectual space, which provides autonomy to writers and artists to express themselves freely. Especially when they digress.

## Time to raise the bar

### The judiciary needs a mechanism to regulate post-retirement government appointments

**N.L .Rajah, [N.L. Rajah is Senior Advocate, Madras High Court]**

Justice A.K. Sikri, a well-regarded judge of the Supreme Court of India, found himself in the eye of a storm arising from accepting a post offered by the government, last year, while being a judge of the court. By later turning down the offer after the controversy erupted, he substantially redeemed the judiciary’s and his own honour. However, this is

an issue that recurs frequently. Even titans in the legal field have had to face stinging rebuke from respected members of the fraternity for similar lapses.

### **The case of M.C. Chagla**

For example, take the case of the late Justice M.C. Chagla. Both he and the former Attorney General of India, M.C. Setalvad, were members of the First Law Commission. Speaking as members of the Law Commission they had categorically denounced the proclivity of judges accepting post-retirement jobs sponsored by governments and called for an end to it. Unfortunately, in his post-retirement assignments, Justice Chagla violated the very same principle he had supported.

After retirement, he accepted a government appointment to serve as Indian Ambassador to the U.S. (1958-61) and later as Indian High Commissioner to the U.K (1962- 1963). Soon after this he was asked to be minister for education in Nehru's cabinet, which he again accepted. He served as Education Minister (1963-66) and then as Minister for External Affairs (1966-67).

All this incensed his good friend M.C. Setalvad no end. In his book, *My Life: Law and Other Things*, he did not mince words in commenting on this serious lapse. He observed: "The Law Commission had, after careful consideration, expressed the unanimous view that the practice of a judge looking forward to accepting employment under the government after retirement was undesirable as it could affect the independence of the judiciary... He was so keen to get into politics that soon after the report was signed by him he resigned his office to become India's Ambassador to the United States. His action was characteristic of the self-seeking attitude of many of our leading men."

These harsh words are possibly unfair to a person of the calibre of Chagla. In none of the posts he held could he be accused of having acted as a sidekick to the government. On the other hand, by declaring in 1965 that the Aligarh Muslim University could not claim minority status conferred under Article 30(1) of the Constitution, he even earned the collective ire of his cabinet members. However, the shrill denunciations of the Law Commission on judges accepting post-retirement posts and Setalvad's repeated calls to honour the principle merit acceptance even today.

In a study, the Vidhi Centre for Legal Policy pointed out that as many as 70 out of 100 Supreme Court retired judges have taken up assignments in the National Human Rights Commission of India, National Consumer Disputes Redressal Commission, Armed Forces Tribunal, and the Law Commission of India, etc. In *Rojer Mathew v. South Indian Bank Ltd.* — which is currently going into the issue of tribunalisation of the judiciary and its challenges to the independence of the judiciary — senior counsel Arvind P. Datar, amicus, has observed: "The Tribunals should not be haven for retired persons and appointment process should not result in decisions being influenced if the Government

itself is a litigant and appointment authority at the same time.” Mr. Datar has expressed the sentiments of many of us at the Bar.

### **Striking a balance**

At the same time, it is also true that the valuable experience and insights that competent and honest judges acquire during their period of service cannot be wasted after retirement. Unlike abroad, a judge of the higher judiciary in India retires at a comparatively young age and is capable of many more years of productive work. However, government-sponsored post-retirement appointments will continue to raise a cloud of suspicion over the judgments the best judges delivered while in service. Though cliched, it is true that in law justice must not only be done but also be seen to be done. Therefore, the viable option is to expeditiously establish, through a properly enacted statute, a commission made up of a majority, if not exclusively, of retired judges to make appointments of competent retired judges to tribunals and judicial bodies.

It is true that judges cannot legislate. However, where a void is found in the legal framework that requires immediate attention, and legislative intervention is not likely to emerge immediately, the Supreme Court is empowered to provide an interim solution till legislation is passed to address the hiatus. This process the top court has followed, to cite an instance (there are others), in the Vishaka case, where it laid down guidelines to deal with sexual harassment in workplaces till a law was passed by Parliament. It is desirable the Supreme Court invokes that methodology now and puts in place a process to regulate post-retirement appointments for judges. Such a process must sufficiently insulate the judiciary from the charge of being a recipient of government largesse.

In these times, the attacks on the fabric of independence of the judiciary will not be through engulfing flames but through small corrosive doses. Therefore, it is in the judiciary’s own interests to resolve this issue as expeditiously as it can.